VIDYABHARATI Vidyabharati International Interdisciplinary Research Journal
ISSN 2319-4979

हिंदी साहित्य में पर्यावरणीय परिवर्तन और बदलते मानवीय संबंध: प्रकृति के संदर्भ में एक अध्ययन

रीता देवी
सहायक प्राध्यापक, रविन्द्र नाथ टैगोर राजकीय महाविद्यालय सरकाघाट
reetzraj077@gmail.com

Abstract
*प्रस्तुत शोध-पत्र समकालीन हिंदी औपन्यासिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरणीय रूपांतरण, प्राकृतिक संकट तथा बदलते मानवीय अंतर्संबंधों की त्रयी का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। पारंपरिक भारतीय समाज और साहित्य में प्रकृति एवं मनुष्य का संबंध सह-अस्तित्वमूलक रहा है, किंतु आधुनिक औद्योगिक विकास, बाँध परियोजनाओं और अनियंत्रित व्यावसायिक पर्यटन ने इस प्राकृतिक व सामाजिक संतुलन को ध्वस्त कर दिया है। पूर्ववर्ती शोधों में पर्यावरण विमर्श को प्रायः बाह्य विस्थापन, राज्य-पूँजी गठजोड़ अथवा व्यापक आर्थिक क्षति के स्थूल धरातल पर विश्लेषित किया गया है, जिससे पर्यावरणीय विनाश के परिणामस्वरूप पारिवारिक, अंतर-वैयक्तिक और मनोवैज्ञानिक संबंधों में आने वाले सूक्ष्म बदलावों का अध्ययन गौण रहा है। इस शोध-अंतराल **(Research Gap)** को संबोधित करने के लिए प्रस्तुत अध्ययन में दो भिन्न भौगोलिक व पारिस्थितिकीय परिवेशों का प्रतिनिधित्व करने वाले उपन्यासों–**वीरेंद्र जैन** कृत **डूब** (नदी घाटी व बाँध विस्थापन) तथा **एस. आर. हरनोट** कृत **हिडिम्ब** (पर्वतीय व वन्य पारिस्थितिकी)–का गहन पाठ-विश्लेषण किया गया है। शोध यह स्थापित करता है कि प्रकृति का भौतिक विध्वंस और वस्तुकरण अनिवार्यतः पारिवारिक संस्था के विखंडन, रक्त-संबंधों में अविश्वास, पारस्परिक मूल्यों के ह्रास और सामुदायिक अलगाव **(Alienation)** में परिणत होता है।*

Keywords: *पर्यावरण विमर्श, पारिस्थितिकीय आलोचना **(Ecocriticism)**, बदलते मानवीय संबंध, विस्थापन, पारिवारिक विघटन, सामुदायिक अलगाव, वीरेंद्र जैन (डूब), एस. आर. हरनोट (हिडिम्ब)।*

1. Introduction

भारतीय दार्शनिक चिंतन और साहित्यिक परंपरा में प्रकृति को मनुष्य के अस्तित्व की पोषक पृष्ठभूमि और सहचरी के रूप में मान्यता प्राप्त रही है। वैदिक ऋचाओं के 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' के एकात्म बोध से लेकर भक्तिकालीन और छायावादी काव्य तक प्रकृति केवल आलंबन या उद्दीपन मात्र नहीं रही, बल्कि वह मानवीय राग-विराग और संवेदनाओं का आंतरिक विस्तार रही है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विचारकों ने वनस्पति और मनुष्य के इसी अगाध जैविक और नैतिक रिश्ते को उजागर किया था। जब तक मनुष्य का प्रकृति के साथ यह सहजीवितामूलक संबंध बना रहा, तब तक सामाजिक संरचना में परस्पर निर्भरता, पारिवारिक आत्मीयता और सामुदायिक सहकार का संतुलन अक्षुण्ण रहा।

किंतु आधुनिकता, औपनिवेशिक उपयोगितावाद और उत्तर-उदारीकरण के दौर में प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में बुनियादी विचलन आया। प्रकृति को एक सजीव, संवेदनशील सह-अस्तित्ववादी सत्ता मानने के स्थान पर उसे मात्र आर्थिक लाभ, कच्चे माल और उपभोग के संसाधन के रूप में देखा जाने लगा। इस विकासांधता ने नदियों के स्वाभाविक प्रवाह को विशाल बाँधों में बाँधकर बस्तियों को डुबो दिया और पर्यटन-पूँजी के दबाव में पहाड़ों को बारूद से छलनी कर दिया। साहित्य इस भौतिक क्षरण को केवल पर्यावरणीय आँकड़ों के रूप में दर्ज नहीं करता, बल्कि वह यह दिखलाता है कि जब बाह्य पर्यावरण रुग्ण और छिन्न-भिन्न होता है, तो उसका सीधा प्रहार मनुष्य की चेतना, उसके पारस्परिक विश्वास और सदियों से निर्मित पारिवारिक ताने-बाने पर पड़ता है।

अध्ययन के उद्देश्य (Research Objectives)

समकालीन हिंदी उपन्यासों में चित्रित पर्यावरणीय क्षरण (बाँध विस्थापन एवं पर्वतीय पारिस्थितिकी विध्वंस) के वास्तविक स्वरूप को समझना।

प्राकृतिक पारिस्थितिकी के विनाश के परिणामस्वरूप पारिवारिक, सामाजिक और अंतर-वैयक्तिक संबंधों में आने वाले संरचनात्मक रूपांतरण का आलोचनात्मक विश्लेषण करना।

वीरेंद्र जैन कृत उपन्यास डूब के माध्यम से बाँध-विस्थापन जनित पारिवारिक विखंडन, मुआवजे की लालच में रक्त-संबंधों के क्षरण और वृद्ध पीढ़ी के हाशिएकरण की पड़ताल करना।

एस. आर. हरनोट कृत उपन्यास हिडिम्ब के आलोक में अनियंत्रित पर्यटन, वन-विनाश तथा कंक्रीट संस्कृति द्वारा पारंपरिक पर्वतीय भाईचारे, लोक-संस्कृति और सामुदायिक सहजीविता के टूटने का अध्ययन करना।

पूर्ववर्ती शोधों में उपेक्षित पर्यावरण-जनित सूक्ष्म मानवीय व मनोवैज्ञानिक संत्रास **(Research Gap)** को रेखांकित करते हुए एक समग्र साहित्यिक-पारिस्थितिकीय दृष्टि प्रस्तुत करना।

शोध-प्रश्न (Research Questions)

पर्यावरणीय क्षरण और भौतिक भूगोल का रूपांतरण किस प्रकार पारंपरिक ग्रामीण व पर्वतीय समाजों के मानवीय संबंधों को विकृत करता है?

डूब उपन्यास में बाँध परियोजना और नकद मुआवजे की व्यवस्था ने संयुक्त परिवार की संस्था, भाइयों के आपसी विश्वास और अंतर-पीढ़ीगत संबंधों को कैसे प्रभावित किया है?

हिडिम्ब उपन्यास में पूँजीवादी पर्यटन और प्रकृति-दोहन के समानांतर पहाड़ी समुदाय की सदियों पुरानी सहकारिता किस प्रकार स्वार्थ, षड्यंत्र और सामाजिक अलगाव में तब्दील हो जाती है?

क्या प्रकृति का वस्तुकरण और बाजारीकरण सीधे तौर पर मानवीय संवेदनाओं और सामाजिक संबंधों के वस्तुकरण का कारण बनता है?

2. Literature Review

पारिस्थितिकीय आलोचना **(Ecocriticism)** का बुनियादी प्रस्थान-बिंदु यह है कि मानव संस्कृति और भौतिक पर्यावरण एक-दूसरे से पूर्णतः संपृक्त हैं। चेरिल ग्लोटफेल्टी के अनुसार, इकोक्रिटिसिज्म साहित्य और भौतिक पर्यावरण के बीच के संबंधों का गहन अध्ययन है। जब कोई विकास मॉडल प्रकृति को विजित करने योग्य वस्तु मानता है, तो वह अनिवार्यतः उस परिवेश में रहने वाले समुदायों की सामाजिक व पारिवारिक संरचना को भी विखंडित करता है। भौगोलिक परिवेश केवल निर्जीव मिट्टी, पत्थर या जल का भंडार नहीं होता, बल्कि वह स्मृतियों, सांस्कृतिक आचारों और मानवीय संबंधों का मूर्त आधार होता है। जब कोई बाँध सदियों पुराने गाँव को जलमग्न कर देता है या कोई व्यावसायिक परियोजना पहाड़ों और जंगलों को काट देती है, तो वहाँ के निवासी केवल अपना घर नहीं खोते, बल्कि उनका सदियों पुराना 'पारिस्थितिकीय सुरक्षा-तंत्र' बिखर जाता है। ऑस्ट्रेलियाई दार्शनिक ग्लेन अल्ब्रेक्ट की अवधारणा 'सोलास्टैल्जिया' **(Solastalgia)**–अर्थात अपने ही परिवेश में रहते हुए पर्यावरणीय विनाश को देखकर उत्पन्न होने वाला गहरा मानसिक संत्रास और विस्थापन-बोध–यहाँ अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध होती है। जब साझा प्राकृतिक संपदा **(Commons)** का विनाश होता है, तो व्यक्तिवादी स्वार्थ पनपता है, जिससे मानवीय संबंधों की आत्मीयता समाप्त हो जाती है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रकृति निरंतर उपस्थित रही है, किंतु उसके प्रति मानवीय दृष्टिकोण युगीन परिस्थितियों के अनुसार रूपांतरित होता रहा है। भक्तिकाल में कबीर, जायसी, सूर और तुलसी के यहाँ प्रकृति ईश्वर की विराट सत्ता और मानवीय शुचिता का प्रतीक थी। रीतिकाल में प्रकृति को प्रायः नायक-नायिका के विलास और उद्दीपन का

साधन बना दिया गया। आधुनिक काल के आगमन के साथ छायावाद (विशेषकर सुमित्रानंदन पंत और निराला) ने प्रकृति को एक सजीव, संवेदनशील चेतना के रूप में पुनः प्रतिष्ठित किया। प्रेमचंद के उपन्यासों (गोदान, प्रेमाश्रम) में किसान और उसकी कृषि-भूमि का संबंध मात्र आर्थिक न होकर प्राणवान और नैतिक बनकर उभरा।

उत्तर-उदारवादी दौर में जब बड़े बाँधों, खदानों, राजमार्गों और अनियंत्रित कंक्रीट निर्माण से पर्यावरण का संकट विकराल हुआ, तब हिंदी कथाकारों ने प्रकृति को रोमानी भावुकता से बाहर निकालकर यथार्थवादी विमर्श के केंद्र में स्थापित किया।

शोध-अंतराल (Research Gap):

शोधगंगा तथा प्रमुख शोध-पत्रिकाओं में उपलब्ध शोध-प्रबंधों की समीक्षा से स्पष्ट होता है कि हिंदी कथा-साहित्य में पर्यावरण विमर्श पर केंद्रित अधिकांश कार्य बाह्य विस्थापन, राज्य-पूँजी गठजोड़ और आर्थिक आँकड़ों तक ही सीमित रहे हैं। संजीव के उपन्यासों (धार, सावधान नीचे आग है) में खनन और मजदूरी शोषण तथा रणेंद्र के उपन्यास ग्लोबल गाँव के देवता पर जनजातीय अस्तित्व के संदर्भ में विस्तृत शोध उपलब्ध हैं। किंतु इन अध्ययनों में यह शोध-अंतराल निरंतर बना रहा कि पर्यावरणीय विनाश के कारण घर, परिवार और अंतर-वैयक्तिक संबंधों के सूक्ष्म स्तर पर क्या बदलाव आते हैं। रक्त-संबंधों में स्वार्थ का प्रवेश, बुजुर्गों के सामाजिक आदर का ह्रास और आत्मीय समुदाय का संवेदनहीन भीड़ में बदल जाना–ये ऐसे पहलू हैं जिनका एकाग्र अध्ययन नहीं हुआ है। प्रस्तुत शोध-पत्र वीरेंद्र जैन के डूब और एस. आर. हरनोट के हिडिम्ब के माध्यम से इसी शोध-अंतराल की पूर्ति करता है।

3. Research Work

3.1 शोध-पद्धति (Methodology)

प्रस्तुत शोध-पत्र में प्राथमिक रूप से पाठ-विश्लेषण **(Textual Analysis)** और तुलनात्मक अध्ययन पद्धति **(Comparative Method)** का प्रयोग किया गया है। अध्ययन का सैद्धांतिक ढाँचा पारिस्थितिकीय आलोचना **(Ecocriticism)** तथा समाजशास्त्रीय उपागम पर आधारित है।

प्राथमिक स्रोत **(Primary Sources):** वीरेंद्र जैन का उपन्यास डूब **(1991)** तथा एस. आर. हरनोट का उपन्यास हिडिम्ब **(2004)**।

द्वितीयक स्रोत **(Secondary Sources):** पर्यावरण विमर्श, विस्थापन और पारिस्थितिकी से संबंधित आलोचनात्मक ग्रंथ, शोध-पत्रिकाएँ तथा शोधगंगा पर उपलब्ध संबंधित शोध-प्रबंध।

विश्लेषण की प्रविधि: उपन्यासों के प्रमुख प्रसंगों, संवादों, पात्रों के व्यवहार और आंतरिक द्वंद्वों का गहन विश्लेषण करते हुए पर्यावरणीय कारकों और मानवीय संबंधों के विघटन के अंतर्संबंधों को उद्घाटित किया गया है।

3.2 प्राथमिक पाठों का गहन पाठ-विश्लेषण (Textual Analysis)

'डूब' (वीरेंद्र जैन): जल-समाधि, बाँध विस्थापन और पारिवारिक विखंडन

वीरेंद्र जैन कृत उपन्यास डूब **(1991)** मध्य भारत के बुंदेलखंड अंचल में स्थित राजघाट बाँध परियोजना की पृष्ठभूमि पर रचा गया है। बाँध के जलाशय के विस्तार के कारण लड़ैई सहित दर्जनों गाँव (बारी, टोठे, शंकरपुर, पंचमपुर, सिरसौदिया आदि) जलमग्न होने की कगार पर पहुँच जाते हैं। उपन्यास में बेतवा नदी केवल एक जल-स्रोत नहीं है, बल्कि वह संपूर्ण ग्रामीण सभ्यता, कृषि चक्र, पारिवारिक मर्यादा और लोक-आस्था की जीवन-रेखा है। विकासात्मक राष्ट्रवाद के तहत जब बाँध निर्माण के जरिए नदी को रोका जाता है, तो वही जीवनदायिनी प्रकृति एक संहारक 'डूब' में बदल जाती है जो उपजाऊ खेतों, पेड़ों, चरागाहों और पुरखों की बस्तियों को लीलने लगती है।

उपन्यास का मुख्य पात्र 'माते' (इमरत सिंह) अशिक्षित होते हुए भी गहरी लोक-चेतना और राजनीतिक समझ से संपन्न किसान है। वह इस विनाशकारी विकास के छल को पहचानता है और कहता है:

"हमसे वोट के सिवा तुमने कुछ चाहा है भला? हमारी जो दशा बनाई है तुमने, उसमें और देने को है ही क्या हमरे पास?... हमसे तो छीना ही है। मदरसा छीना, मोटर छीनी, सड़क छीनी, तेंदू पत्ते का रोजगार छीना, मुसलमान भाई छीने, अट्टू साव छीने, शांति छीनी, मेलजोल छीना।"

इस पर्यावरणीय त्रासदी का सबसे घातक प्रहार लड़ैई गाँव के पारिवारिक और सामाजिक ताने-बाने पर पड़ता है। सदियों से जिस उपजाऊ जमीन ने संयुक्त परिवार को परस्पर बाँध रखा था, उसी जमीन के सरकारी मुआवजे (नकद धन) की घोषणा होते ही पारिवारिक निष्ठाएँ चकनाचूर हो जाती हैं। जमीन के प्रति एकड़ 1600 रुपये के मुआवजे में से किसानों के हाथ केवल 600 रुपये आते हैं, बाकी अफसरशाही और दलाल हड़प जाते हैं। माते क्षुब्ध होकर व्यवस्था और मानवीय पतन पर टिप्पणी करता है:

"दाता की हथेली नीचे रखवाई और मंगते ने रखी ऊपर। यह उलटा चलन चलाया, इसलिए तो न देने वाले के हाथ में कुछ रह पाया न पाने वाले तक कुछ पहुँचा।"

मुआवजे के इस नकद धन ने सगे भाइयों के बीच अविश्वास, ईर्ष्या और मुकदमों की दीवार खड़ी कर दी। पुश्तैनी खेती का आधार छिनते ही परिवार में बुजुर्गों की सत्ता और आदर समाप्त हो जाता है। युवा पीढ़ी गाँव और जमीन से अपना भावनात्मक नाता तोड़कर शहर की ओर भागने को आतुर दिखाई देती है। डूब यह स्पष्ट करता है कि जब प्रकृति से मनुष्य का सहजीविता का जैविक रिश्ता टूटता है और उसकी जगह नकद धन ले लेता है, तो रक्त-संबंध भी बाजारू विनिमय में बदल जाते हैं। लड़ैई गाँव का डूबना वस्तुतः पारिवारिक प्रेम, बुजुर्गों के सम्मान और सामाजिक सहकार की ही जल-समाधि है।

'हिडिम्ब' (एस. आर. हरनोट): पर्वतीय पारिस्थितिकी का विध्वंस और सामुदायिक अलगाव

एस. आर. हरनोट का उपन्यास हिडिम्ब (2004) उत्तर भारत के पर्वतीय अंचल (हिमाचल प्रदेश) के अत्यंत संवेदनशील पर्यावरण पर पूँजी और अनियंत्रित पर्यटन उद्योग के हिंसक आक्रमण को रूपायित करता है। उपन्यास का शीर्षक महाभारत कालीन राक्षसी 'हिडिम्बा' के मिथक को समकालीन यथार्थ से जोड़ता है, जहाँ आधुनिक राजनेता, नौकरशाह और होटल व्यवसायी प्रकृति-भक्षी 'हिडिम्ब' बनकर देवभूमि के पहाड़ों, चीड़-देवदार के जंगलों और पवित्र जलप्रपातों को निगल रहे हैं। पाँच-सितारा होटलों के निर्माण और पर्यटकों के मनोरंजन हेतु सड़कों के चौड़ीकरण के लिए पहाड़ों को डायनामाइट से उड़ाया जाता है, जिससे भूस्खलन और धूल का साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

उपन्यास का केंद्रीय पात्र 'शावणू' एक सीधा-सादा पहाड़ी किसान और दलित है, जिसकी पुश्तैनी उपजाऊ भूमि पर स्थानीय मंत्री और प्रशासन की कुदृष्टि पड़ती है। शावणू के लिए उसकी भूमि, भेड़ों की ऊन और स्थानीय काहिका जैसी लोक-परंपराएँ केवल आजीविका नहीं, बल्कि उसकी सांस्कृतिक अस्मिता और आत्मिक शांति की धुरी हैं। किंतु आधुनिक विकास की आँधी उसके इस समूचे परिवेश को रौंद देती है। उपन्यासकार इस सांस्कृतिक व पर्यावरणीय क्षरण को रेखांकित करते हुए लिखता है:

"शावणू समझता था कि समय पहले जैसा नहीं रहा। ऊन तो उनकी संस्कृति है। साथी है। जरूरत है। घर की खेती है। मर्द हो या औरत, सभी अपनी-अपनी तरह से पहनते हैं। हाथ से काती ऊन के कितने ही सूट उनकी दरोठियों में पड़े होंगे।... पर अब तो न कोई ऊन कातता है, न पहले जैसे कारीगर ही रहे थे। नया जमाना। सब काम मशीनी हो गए।"

पारिस्थितिकी के इस विध्वंस का सबसे गहरा आघात शावणू के पारिवारिक जीवन और गाँव के मानवीय संबंधों पर पड़ता है। जमीन हथियाने के राजनीतिक षड्यंत्रों के चलते शावणू का परिवार बिखर जाता है। पहाड़ी समाज की वह पारंपरिक समरसता, जहाँ सुख-दुख में पूरा गाँव एक परिवार की तरह एकजुट रहता था, पूँजीवादी लालच के आगे बिखर जाती है। गाँव के गूर, कारकून और नाते-रिश्तेदार सब मंत्री और होटल-माफिया के पाले में खड़े हो जाते हैं और अकेले शावणू को अलग-थलग कर देते हैं। शावणू के अपने स्वजन भी बाजारवादी प्रलोभनों के आगे आत्मसमर्पण कर देते हैं। उपन्यास यह सिद्ध करता है कि जब पहाड़ों की छाती पर डायनामाइट चलते हैं, तो केवल चट्टानें नहीं टूटतीं, बल्कि मनुष्य के भीतर की करुणा, सामाजिक आत्मीयता और नैतिक मूल्य भी चकनाचूर हो जाते हैं; वहाँ केवल गहरा अकेलापन और संवेदनहीनता शेष रह जाती है।

3.3 पर्यावरणीय संकट और बदलते मानवीय संबंध (Discussion)

डूब और हिडिम्ब का तुलनात्मक पाठ-विश्लेषण यह उद्घाटित करता है कि पर्यावरणीय संकट केवल भूगोल तक सीमित न रहकर मानवीय समाज में गहरे संरचनात्मक और मनोवैज्ञानिक रूपांतरण पैदा करता है:

साझा प्राकृतिक संपदा का विनाश और सामुदायिक आत्मीयता का लोप: पारंपरिक समाजों में नदी, जंगल, चरागाह और पहाड़ साझी संपदा **(Commons)** थे, जिससे पारस्परिक सहयोग और सहकारिता की संस्कृति निर्मित होती थी। डूब में बाँध परियोजना और हिडिम्ब में होटल पूँजीवाद ने इस साझी प्रकृति को नष्ट कर दिया। परिणामस्वरूप, गाँव की सामूहिक चेतना का स्थान संकीर्ण व्यक्तिवाद और गलाकाट प्रतिस्पर्धा ने ले लिया।

रक्त-संबंधों का बाजारीकरण और पारिवारिक विखंडन: प्राकृतिक संसाधनों के विस्थापन के बाद जब राज्य द्वारा नकद मुआवजा दिया जाता है, तो वह धन संबंधों में दरार डाल देता है। डूब में उपजाऊ जमीन छिनते ही भाइयों के बीच मुआवजे के बँटवारे को लेकर मुकदमेबाजी और वैमनस्य शुरू हो जाता है। इसी प्रकार हिडिम्ब में जमीन के प्रलोभन में शावणू के अपने सगे-संबंधी ही उसके खिलाफ षड्यंत्रकारियों से हाथ मिला लेते हैं।

अंतर-पीढ़ीगत संबंधों का टूटना और वृद्धों का हाशिएकरण: जब तक समाज प्रकृति और कृषि से जुड़ा रहता है, तब तक बुजुर्गों का पारंपरिक अनुभव और लोक-ज्ञान मूल्यवान माना जाता है। किंतु प्रकृति के उजड़ते ही युवा पीढ़ी अपनी सांस्कृतिक जड़ों और वृद्ध माता-पिता को छोड़कर शहरों की अंधी दौड़ में शामिल हो जाती है। डूब का माते और हिडिम्ब का शावणू अपनी ही संतानों और समाज के बीच बेगाने और लाचार बनकर रह जाते हैं।

पारिस्थितिकीय संत्रास **(Solastalgia)** और सामाजिक अलगाव: अपनी आँखों के सामने अपनी जन्मभूमि, नदी और पहाड़ों को नष्ट होते देखना मनुष्य के मन में गहरा मनोवैज्ञानिक आघात उत्पन्न करता है। यह अलगाव मनुष्य को समाज से ही नहीं, बल्कि स्वयं अपनी संवेदना से भी काट देता है, जिससे पारस्परिक रिश्तों में संवेदनहीनता और क्रूरता घर कर जाती है।

3.4 सामाजिक एवं मानवीय सरोकार

हिंदी औपन्यासिक साहित्य में दर्ज यह पारिस्थितिकीय विमर्श समकालीन सभ्यता के सम्मुख गंभीर नैतिक और नीतिगत प्रश्न उपस्थित करता है। आधुनिक विकास का जो मॉडल पश्चिमी औद्योगिकीकरण से लिया गया है, वह प्रकृति को मात्र उपभोग की वस्तु और मनुष्य को उसका स्वामी मानकर चलता है। यह अंधी दौड़ यह भूल जाती है कि प्रकृति के विनाश पर खड़ा किया गया कोई भी भौतिक वैभव कभी स्थायी मानवीय सुख और शांति नहीं दे सकता। महात्मा गांधी ने आगाह किया था कि प्रकृति मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है, किंतु उसके लोभ की नहीं।

डूब और हिडिम्ब दोनों उपन्यास यह प्रमाणित करते हैं कि जब राज्य और पूँजी का गठजोड़ प्रकृति का अनियंत्रित दोहन करता है, तो उसका सबसे पहला और भयानक शिकार समाज के सबसे निर्बल वर्ग–किसान, दलित और ग्रामीण समुदाय–होते हैं। बड़े बाँधों का निर्माण या पहाड़ों पर पाँच-सितारा पर्यटन की चमक उन स्थानीय लोगों की

बलि देकर हासिल की जाती है जिन्होंने पीढ़ियों से प्रकृति को सहेज कर रखा था। साहित्य यहाँ एक चेतावनी और सामाजिक अंतःकरण के रूप में हस्तक्षेप करता है। वह यह स्पष्ट करता है कि यदि मानवीय संबंधों में प्रेम, करुणा, सहकार और पारिवारिक मूल्यों को बचाना है, तो मनुष्य को प्रकृति के साथ अपने रिश्ते को पुनः सह-अस्तित्वमूलक बनाना होगा। पर्यावरण की रक्षा वस्तुतः मानवीय संवेदना और सामाजिक स्वास्थ्य की अनिवार्य पूर्वशर्त है।

4. Conclusion

प्रस्तुत अध्ययन यह सुस्पष्ट निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि समकालीन हिंदी साहित्य में पर्यावरण का प्रश्न केवल प्रदूषण, जलवायु परिवर्तन अथवा बाह्य विस्थापन तक सीमित नहीं है, बल्कि वह बदलते मानवीय अंतर्संबंधों और सभ्यतागत संकट की अत्यंत गहरी पड़ताल करता है। वीरेंद्र जैन कृत डूब और एस. आर. हरनोट कृत हिडिम्ब के तुलनात्मक अनुशीलन से यह अकादमिक सत्य प्रमाणित होता है कि भौतिक पारिस्थितिकी का विध्वंस अनिवार्य रूप से मानवीय रिश्तों के विघटन और नैतिक पतन की ओर ले जाता है।

इन दोनों कृतियों का मौलिक योगदान यह है कि ये वृहद् राजनीतिक-आर्थिक बहसों से आगे बढ़कर घर, परिवार, रक्त-संबंधों और व्यक्ति के मन पर पड़ने वाले सूक्ष्म आघातों को उजागर करती हैं। बुंदेलखंड के लड़ैई गाँव की जलमग्न होती पारिवारिक आत्मीयता और हिमाचल के शावणू का बिखरता सामाजिक संसार–ये दोनों एक ही अविभाज्य संकट के दो पहलू हैं।

हिंदी साहित्य की यह अंतर्दृष्टि स्पष्ट करती है कि जब तक प्रकृति को केवल मुनाफे और उपभोग की वस्तु माना जाता रहेगा, तब तक मानव समाज में भी संबंधों का बाजारीकरण और मानवीयता का क्षरण थमेगा नहीं। अतः पर्यावरण संरक्षण का संघर्ष वस्तुतः स्वयं मानवीय संवेदना, पारिवारिक समरसता और सामाजिक सह-अस्तित्व को बचाने का ही संघर्ष है।

References

1. Akhirwar, S. (2022). 'Doob' upanyas mein kisanon ki sthiti ka adhyayan ['डूब' उपन्यास में किसानों की स्थिति का अध्ययन]. International Journal of Creative Research Thoughts (IJCRT), 10(12), C150–C153.
2. Albrecht, G. (2005). 'Solastalgia': A new concept in human health and identity. Philosophy Activism Nature, 3, 41–55.
3. Dwivedi, H. (1964). Kutaj [कुटज]. Rajkamal Prakashan.
4. Garrard, G. (2004). Ecocriticism. Routledge.
5. Glotfelty, C., & Fromm, H. (Eds.). (1996). The ecocriticism reader: Landmarks in literary ecology. University of Georgia Press.
6. Harnot, S. R. (2004). Hidimb [हिडिम्ब]. Aadhar Prakashan.
7. Jain, V. (1991). Doob [डूब]. Vani Prakashan.
8. Joshi, D. (2004). Hidimb: Prakritik evam sanskritik chintao ka aakhyan [हिडिम्ब: प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक चिंताओं का आख्यान]. Abhivyakti, Web Edition.
9. Singh, N. (Ed.). (2011). Premchand aur bharatiya samaj [प्रेमचंद और भारतीय समाज]. Rajkamal Prakashan.
10. Snehlata, Dr. (2023). Virendra Jain krit 'Doob' upanyas mein kisan jeevan ki trasadi [वीरेंद्र जैन कृत 'डूब' उपन्यास में किसान जीवन की त्रासदी]. Naye Pallav, 4.